ISSN : 2582-6360

विश्व दीप दिव्य संदेश

मासिक शोध पत्रिका

वर्ष 26 | अंक 02 | विक्रम संवत् 2077-78 फरवरी 2022 | पृष्ठ 34

संरक्षक : विश्वगुरु महामण्डलेश्वर परमहंस श्री स्वामी महेश्वरानन्दपुरीजी

वसंत पंचमी

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान

(जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)

कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Narayan

ISSN : 2582-6360

विश्व दीप दिव्य संदेश

मासिक शोध पत्रिका

वर्ष 26 | अंक 02 | विक्रम संवत् 2077-78 फरवरी 2022 | पृष्ठ 34

परामर्शदाता
देवर्षि कलानाथ शास्त्री
पण्डित अनन्त शर्मा
डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर
प्रो. कैलाश चतुर्वेदी
डॉ. शीला डागा
प्रो. (डॉ.) गणेशीलाल सुथार

प्रधान सम्पादक
सोहन लाल गर्ग

सम्पादक
डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

सह-सम्पादक
डॉ. रामदेव साहू
डॉ. रघुवीर प्रसाद शर्मा
तिबोर कोकेनी
श्रीमती अन्या वुकादिन

सहयोग
नवीन जोशी
आनन्द शर्मा

- प्रमुख संरक्षक -
परम महासिद्ध अवतार श्री अलखपुरी जी
परम योगेश्वर स्वामी श्री देवपुरी जी

- प्रेरणास्त्रोत -
भगवान् श्री दीपनारायण महाप्रभुजी

- संस्थापक -
परमहंस स्वामी श्री माधवानन्द जी

- संरक्षक -
विश्वगुरु महामण्डलेश्वर परमहंस
श्री स्वामी महेश्वरानन्दपुरीजी

- प्रबन्ध सम्पादक -
महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वर पुरी

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान
(जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)
कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Website : vgda.in | **Youtube :** www.youtube.com/c/vishwagurudeepashram | **E-mail :** jaipur@yogaindailylife.org

Sponsored by : **DEVESHWAR DEEP IMPEX PVT. LTD.**, JAIPUR

अनुक्रमणिका

1.	सम्पादकीय	डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा	3
2.	भारतीय धर्म एवं वैष्णव सम्प्रदाय	देवर्षि कलानाथ शास्त्री	4
3.	द्यावापृथिवी : स्वरूपविमर्श	डॉ. रामदेव साहू	8
4	विद्या की देवी सरस्वती	गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'	11
5.	अभिनवसंस्कृतरूपकम् - पूर्वशाकुन्तलम्	डॉ. ललितकिशोर शर्मा	13
6.	उर्मिला (कविता)	धनराज दाधीच	21
7.	भारतीय वाङ्मय एवं शिक्षक-शिक्षार्थी संकल्पना	श्रीमती नेहा शर्मा	22
8.	राष्ट्रोपनिषत्-प्रस्तावना-शतकम्	डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर	31

विश्वदीप दिव्य संदेश पत्रिका का वार्षिक सदस्यता शुल्क **800/- रूपये**

खाता संख्या : 5013053111

IFS Code : KKBK0003541

मुद्रण : **कन्ट्रोल पी**, जयपुर - मो. : 9549666600

सम्पादकीय

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित मासिक शोधपत्रिका का वर्ष 2022 का द्वितीय अंक आपके करकमलों में अर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। भारतीय धर्म-संस्कृति के शोधलेखों का यह संग्रह विद्वानों द्वारा सराहा जा रहा है। विद्वानों द्वारा नियमित भेजे जा रहे शोधलेख हमारा मनोबल बढ़ा रहे हैं व पत्रिका के महत्त्व को भी आलोकित कर रहे हैं। पूर्व अंकों में सभी उच्चस्तरीय विद्वानों के लेख प्रकाशित हुए हैं।

इस अंक में सर्वप्रथम देवर्षि कलानाथ शास्त्री द्वारा लिखित ''भारतीय धर्म एवं वैष्णव सम्प्रदाय'' विषयक लेख में भारतीय धर्म की महत्ता को बतलाते हुये वैष्णव भक्ति के आचार्यों द्वारा प्रवर्तित दार्शनिक सम्प्रदायों एवं उनकी परम्पराओं पर प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् डॉ. रामदेव साहू द्वारा लिखित 'द्यावापृथिवी : स्वरूपविमर्श' में वेद के वैज्ञानिक पक्ष को आधार बना कर द्युलोक एवं पृथ्वीलोक के उत्पत्ति के विषय में वैदिक मत का प्रस्तुतीकरण किया गया है। तत्पश्चात् गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' द्वारा लिखित विद्या की देवी सरस्वती शीर्षक लेख में वसन्त पंचमी पर मनाये जाने वाले सरस्वती महोत्सव के विषय में शास्त्रोक्त मन्तव्यों का उल्लेख किया गया है। डॉ. ललित किशोर द्वारा लिखित 'अभिनवसंस्कृतरूपकम् पूर्वशाकुन्तलम्' लेख में डॉ. हरिराम आचार्य द्वारा रचित पूर्वशाकुन्तल नाटक के साहित्यिक समालोचना प्रस्तुत हुई है। इसी क्रम में धनराज दाधीच द्वारा लिखित ''उर्मिला'' आधुनिक हिन्दी साहित्य सृजन के क्षेत्र में श्रेष्ठ गीतिकाव्य है। नेहा शर्मा द्वारा लिखित 'भारतीय वाङ्मय एवं शिक्षक-शिक्षार्थी संकल्पना' लेख में प्राचीन भारत में प्रचलित गुरु शिष्य परम्परा तथा शैक्षिक आदर्शों की पृष्ठभूमि को उपस्थापित कर भारतीय शिक्षा के स्वरूप का दिग्दर्शन किया गया है। अन्त में डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर के 'राष्ट्रोपनिषत् प्रस्तावनाशतकम्' के कतिपय पद्य प्रकाशित किये गये हैं, जो गुरुशिष्यपरम्परा के गौरव को प्रदर्शित करने के साथ साथ आत्मचिन्तन की प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं।

आशा है, सुधी पाठक इन्हें रुचिपूर्वक हृदयंगम करने में अपना उत्साह पूर्ववत् बनाये रखेंगे।

शुभकामनाओं सहित....

-डॉ. सुरेन्द्र कुमार शमा

भारतीय धर्म एवं वैष्णव सम्प्रदाय

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

(राष्ट्रपति सम्मानित), प्रधान सम्पादक ''भारती''संस्कृत मासिक
पीठाचार्य, भाषामीमांसा एवं शास्त्रशोध पीठ - विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर
पूर्व अध्यक्ष - राजस्थान संस्कृत अकादमी
आधुनिक संस्कृत पीठ - जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
पूर्व निदेशक - संस्कृत शिक्षा एवं भाषा विभाग, राजस्थान सरकार
सदस्य - संस्कृत आयोग, भारत सरकार

वैष्णव भक्ति के चार आचार्य प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रों (बादरायण रचित वेदान्त सूत्रों) पर अपने-अपने भाष्य लिख कर अपने-अपने दार्शनिक सम्प्रदाय चलाए तथा भक्ति के सम्प्रदायों का सूत्रपात किया। रामानुज (12वीं सदी) ने श्रीभाष्य लिखा और विशिष्टाद्वैत नामक सम्प्रदाय चलाया, जो दक्षिण में तो सुप्रचलित है ही, उत्तर भारत में और राजस्थान में भी इसका पर्याप्त प्रभाव है। निम्बार्क (13वीं सदी) ने वेदान्तपारिजात भाष्य लिखा और द्वैताद्वैत मत चलाया। माध्व ने पूर्णप्रज्ञभाष्य लिखा और द्वैत मत चलाया। इसका अनुसरण करते हुए चैतन्य महाप्रभु (16वीं सदी) ने गौडीय सम्प्रदाय का भक्तिमार्ग प्रवर्तित किया, जो बंगाल में प्रारम्भ हुआ, वृन्दावन में फैला और राजस्थान में भी बहुत पनपा। इसी संप्रदाय के एक विद्वान बलदेव विद्याभूषण ने (1725 ई.) (कहा जाता है कि जयपुर में) गोविंद-भाष्य लिख कर संप्रदाय को 'अचिन्त्य-भेदाभेद' नाम दिया। वल्लभाचार्य (15वीं सदी) ने अणुभाष्य लिख कर शुद्धाद्वैत मत प्रतिपादित किया और पुष्टिमार्ग चलाया, जिसका प्रमुख अनुयायिवर्ग गुजरात और राजस्थान में है।

रामभक्ति-रामानन्द सम्प्रदाय

वैष्णव संप्रदायों का राजस्थान में बहुत प्रसार हुआ। रामानुज संप्रदाय की एक प्रमुख गद्दी जयपुर में (तत्कालीन आमेर राज्य में) गलता नामक स्थान में थी। इसकी परम्परा अब तक वहाँ चली आ रही है और जयपुर बसने से पूर्व के अनेक मन्दिर वहाँ अब भी देखे जा सकते हैं। इसी कारण विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का पीठ होने से उत्तर तोताद्रि' (उत्तर भारत में रामानुज का प्रमुख पीठ) भी कहा जाने लगा था। इसी वैष्णव संप्रदाय का अनुसरण करने वाले रामानन्द

(1400-1470) ने अपनी उप-शाखा उत्तर भारत में चलायी थी। रामानंदी संप्रदाय उत्तर भारत में बहुत प्रसिद्ध हुआ। कबीर स्वयं रामानंद के शिष्य थे, पर उनका मन निर्गुण भक्ति की ओर झुक गया, जबकि रामानंदी संप्रदाय में राम की सगुण भक्ति चलती रही । रामानंद की शिष्यपरंपरा में जयपुर (आमेर) के पयआहारी स्वामी थे, जिन्होंने इस प्रदेश मे नाथों का प्रभाव समाप्त कर रामानंदी भक्तिपरंपरा प्रवाहित की । उनके शिष्य अग्रदास जी (16वीं सदी का मध्य) यहीं हुए जो बाद में सीकर के पास रेवासा नामक गाँव चले गये और वहाँ उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की, जो आज तक चली आ रही है।

अग्रदास जी सांस्कृतिक इतिहास में राम की मधुर भक्ति के प्रवर्तक के रूप में विख्यात हैं। इन्होंने रामभक्ति पर अनेक हिन्दी काव्य लिखे हैं। गलता में रामानंद के शिष्य कील्हदास जी (16वीं सदी) रहे जिन्होंने यहाँ के मन्दिरों में रामानन्दी भक्ति संप्रदाय सुदृढ़ किया । इस शाखा की यह विशेषता है, कि यहाँ राम की भक्ति और पूजा कृष्ण की भाँति रागात्मिका या माधुर्यलक्षणा भक्ति के रूप में, उन्हें एक रसिक नायक मानते हुए की जाती है। जुगल सरकार (सीता व राम) की श्रृंगारिक जोड़ी पूजी जाती है तथा राम-सीता की रासलीला आदि मधुर लीलाएँ उनके साथ जोड़ दी गयी हैं। रामभक्ति की यह मधुर शाखा यहाँ की विशिष्ट देन है, जिसे सवाई जयसिंह 1743) ने भी प्रश्रय दिया और अपने राजकवि श्रीकृष्णभट्ट कवि से 'राम रासा' (राम की रास लीला) लिखवाया। रामानंद के प्रिय शिष्यों द्वारा स्थापित शाखाओं में एक रामस्नेही संप्रदाय भी है, जिसका रुझान निर्गुण भक्ति की ओर हो गया। किन्तु इनकी प्रमुख गद्दियाँ भी राजस्थान में ही हैं ।

कृष्ण भक्ति-वल्लभ संप्रदाय

राजस्थान में कृष्णभक्ति की परंपरा बहुत पुरानी है। चित्तौड़ के निकट घोसुंडी गांव में प्राप्त द्वितीय शती ई. पू. के एक शिलालेख में संकर्षण वासुदेव की पूजा का उल्लेख मिलता है। जोधपुर के निकट मंडौर में भी गुप्तकालीन शिला-लेखों में कृष्ण लीला चित्रित है। राजस्थान में ब्रजमण्डल का प्रभाव तभी से आने लगा, जब दिल्ली की मुगल सल्तनत से जयपुर, जोधपुर आदि के राजवंशों ने संबंध स्थापित किया और आगरे के शाही दरबार में उनका आना-जाना होने लगा। जयपुर के राजाओं ने वृन्दावन जैसे स्थानों पर कृष्णमन्दिर बनवाये और कृष्णभक्ति के आचार्यों के प्रति श्रद्धा दिखलायी । औरंगजेब जैसे बादशाहों की अनुदार नीति के कारण मुगल-साम्राज्य के आधिपत्य वाले नगरों से आचार्यों ने सुरक्षा की दृष्टि से अपनी आराध्यमूर्तियों को हटा कर देशी रियासतों के राजाओं के संरक्षण में ले जाना

श्रेयस्कर समझा । ऐसी ही एक घटना वल्लभाचार्य के आराध्य श्रीनाथ जी का गिरिराज (गोवर्धन) से निकल कर सितम्बर 30 सन् 1669 को गोस्वामी दामोदर जी तथा उनके चाचा गोविन्द जी द्वारा राजस्थान लाना तथा अन्ततः 10, फरवरी, 1872 को सीहाड़ गाँव में उसका स्थापन करना रही। तभी से सिहाड गाँव श्रीनाथद्वारा कहलाने लगा और वल्लभाचार्य का प्रमुख पीठ हो गया।

इस संप्रदाय के इस मुख्य पीठ के अतिरिक्त जो गत तीन सदियों से भी अधिक समय से राजस्थान में है, पुष्टिमार्ग के सात प्रमुख पीठ हैं जो वल्लभाचार्य के पुत्र गुसाईं विट्ठलदास जी (1515-1585 ई.) के सात उत्तराधिकारियों ने अपने-अपने आराध्य देवविग्रहों (मूर्तियों, जिन्हें निधि या स्वरूप कहा जाता है) के नाम पर स्थापित किये थे। यह उल्लेखनीय है, कि इनमें से अधिकांश पीठ राजस्थान में स्थित हैं। प्रथम पीठ मथुरेश जी (जिन्हें बड़े मथुरेश जी कहा जाता है) का है, जो कोटा में है। द्वितीय विट्ठलनाथ जी का है, जो नाथद्वारा (उदयपुर) में है। तृतीय द्वारकाधीश जी का है, जो नाथद्वारा के निकट ही काँकरोली में है।

चतुर्थ गोकुलनाथ जी का है, जो गोकुल में है। यह स्थान वैसे तो उत्तरप्रदेश की परिधि में है, पर राजस्थान के भरतपुर जिले के कामवन नगर के बहुत निकट है। कामवन में पंचम और सप्तम पीठ स्थित हैं, जिन्हें क्रमशः गोकुलचन्द्रजी और मदनमोहनजी का पीठ कहा जाता है । आजकल छठा पीठ जो बालकृष्ण जी का है, सूरत (गुजरात) में स्थित है। वैसे औरंगजेब की हिन्दू मन्दिरों और मूर्तियों के विरोध की नीति के कारण अपना मूल स्थान छोड़ कर चतुर्थ, पंचम और सप्तम पीठ के आचार्य अपने आराध्यों की मूर्तियाँ लेकर जयपुर आये थे, जहाँ वे अनेक वर्ष रहे भी, किन्तु बाद में पंचम और सप्तम स्वरूप बीकानेर होते हुए कामवन आ गये ।

इस प्रकार आज भी पुष्टिमार्गीय भक्तिधारा के अधिकांश 'स्वरूप' राजस्थान में स्थित हैं और ऐतिहासिक कारणों से बनी यह विशिष्ट स्थिति इस भक्तिधारा को इस धारा से अविभाज्य रूप में जोड़ चुकी है। किशनगढ़ का राजवंश इस संप्रदाय का अनुयायी हो गया था। संवत् 1576 में जन्मे सावंतसिंह ने तो कृष्णभक्ति में राजपाट का त्याग कर वृन्दावन वास शुरू कर दिया था तथा अपना नाम नागरीदास रख लिया था । गोस्वामी रणछोड़दास जी से दीक्षा लेकर ब्रजभाषा में उत्कृष्ट भक्तिरचना की थी । बनी ठनी जू जो राधिका का भी विशेषण है और इनकी उप-पत्नी का नाम भी बताया जाता है, इनके साथ ही भक्तिरचना करती थी। इससे राधिका का यह चित्र इतिहास में प्रसिद्ध हो गया । वर्तमान में 41 प्रमुख पुष्टिमार्गीय मन्दिर राजस्थान में हैं। तीन चार सदियों से इस भूमि पर बहने वाली इस भक्तिधारा ने

यहाँ की संस्कृति को बहुत प्रभावित किया है तथा अनेक रूपों में ब्रज-संस्कृति और रागानुगा भक्ति की छाप इस पर छोड़ी है। इस संप्रदाय में मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा या स्थापना न कर उनमें बाल भाव की उपासना 'सेवा' के रूप में की जाती है। मन्दिर भी 'हवेली' कहे जाते हैं, जिनका संगीत 'हवेली संगीत' के नाम से प्रसिद्ध है।

निम्बार्क-संप्रदाय

वैष्णव संप्रदायों में एक प्रमुख संप्रदाय आचार्य निम्बार्क का है, जिसका प्रमुख पीठ भी वर्तमान में किशनगढ़ (अजमेर जिला) के पास सलेमाबाद नामक ग्राम में स्थित है। अन्य वैष्णव संप्रदायों की भांति निम्बार्क संप्रदाय का भी प्रमुख प्रसार वृन्दावन में हुआ (मुगलकाल में) जहाँ हरिव्यास-देवाचार्य जी ने संप्रदाय के पीठों का सुनियोजित पुनर्गठन कर बारह शिष्यों को संप्रदाय के प्रसार का कार्य सौंपा था। इनके प्रमुख शिष्य परशुराम-देवाचार्य जी थे, जो जयपुर राज्यान्तर्गत नारनौल के समीप गौड ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे और कुछ समय मथुरा के नारदटीला पर साधना कर निम्बार्क संप्रदाय की प्रमुख गद्दी राजस्थान में ले गये । पुष्कर में कुछ चमत्कारी पीर लोगों को दिग्भ्रान्त करते थे, अतः उन्हें अपने योगबल से परास्त कर वहाँ इस वैष्णव पीठ की स्थापना इन्होंने आवश्यक समझी, ऐसा माना जाता है। तब से (16वीं सदी के आसपास) अजमेर के पास सलेमाबाद में पीठ स्थित है। 'परशुरामसागर' आदि अनेक भक्तिग्रन्थों में परशुराम जी ने राजस्थानी मिश्रित हिन्दी में काव्यरचना की ।

राजस्थान में इस संप्रदाय का प्रसार हुआ। वर्तमान में उदयपुर में भी निम्बार्क पीठ है तथा जयपुर आदि नगरों में स्थान-स्थान पर इस संप्रदाय के राधाकृष्ण के मन्दिर हैं। इस संप्रदाय में राधा को कृष्ण की स्वकीया (परिणीता) माना जाता है और युगलस्वरूप की मधुर सेवा की जाती है। समय-समय पर राजस्थान की देशी रियासतों के अनेक राजवंशों ने भी इस संप्रदाय के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की । जयपुरनरेश जगतसिंह ने संवत् 1856 में सलेमाबाद जाकर आचार्य का आशीर्वाद प्राप्त किया, जिसके फलस्वरूप राजकुमार जयसिंह का जन्म हुआ, अतः इस राजवंश ने उन्नीसवीं सदी में इस संप्रदाय को बहुत प्रश्रय दिया और अनेक मेले आयोजित किये, जिनका उल्लेख इतिहास में मिलता है।

द्यावापृथिवी : स्वरूपविमर्श

डॉ. रामदेव साहू
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष (वेदविज्ञान)
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर (राज.)

दृश्यमान यह सृष्टि द्यावापृथिवी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अतएव द्यावापृथिवी के स्वरूपपरिज्ञान के लिए वेदविज्ञानवेत्ताओं द्वारा पर्याप्त चिन्तन किया गया है। 'द्यौ' क्या है ? इस विषय में दो मत प्रचलित थे, ऐसा पं. मधुसूदन ओझा महोदय ने अहोरात्रवाद में प्रतिपादित किया है। वहाँ दिखलाये गये प्रथम मत के अनुसार द्यौ व्योम (आकाश) ही है और वह व्योम (आकाश) सूर्य चन्द्र तारे ग्रह आदि से परिपूर्ण अवयवों (स्थानों) वाला दिखायी देता है। वहाँ उनके द्योतमान (प्रकाशमान) होने से 'द्यौ' संज्ञा होती है। वह इस दृष्टि से सान्वर्थ (अर्थानुकूल या सार्थक) भी प्रतीत होती है। इत मत का प्रकारान्तर से प्रतिपादन शतपथ ब्राह्मण में किया गया है, वहाँ कहा गया है :-

यह पृथ्वी एकमात्र इतने बहुल (अत्यधिक) आयाम वाली है, कि द्यौ तथा अन्तरिक्ष ये दोनों इसके प्रति उद्यामिनी हैं अर्थात् इतने ही आयाम को पाकर इस पृथ्वी को आलम्बन प्रदान करने वाले हैं। जिस प्रकार यह अन्तरिक्ष लेला (अग्निजिह्वा) से प्रतीयमान होता है, वैसे ही द्यौ भी उसी से प्रतीयमान होता है। (अन्तरिक्ष का कोई स्वरूप नहीं है, रिक्त मात्र होने से उसकी प्रतीयमानता केवल पृथ्वी एवं आकाश के होने से ही है, किन्तु द्यौ का अपना स्वरूप है, पृथ्वी की भाँति। अतः उसकी प्रतीयमानता अन्तरिक्ष की प्रतीयमानता से भिन्न है।) (शतपथब्राह्मण-2/15/16)

यहाँ कहा गया है किबहुत बड़े परिमाण वाली यह पृथ्वी है। आकाश भी बहुत बड़े परिमाण वाला है। उसके बहुल परिमाण से ही यह पृथ्वी भी बहुल परिमाण वाली है। अर्थात् जितने परिमाण में यह आकाश दिखायी देता है उतने ही परिमाण में यह पृथ्वी मानी जाती है। इस प्रकार परिमाणगत आनन्त्य के कारण दोनों में बहुलत्व उपपन्न होता है। द्यौ और अन्तरिक्ष ये दोनों ही इस पृथ्वी के प्रति उद्याम वाले हैं। उद्याम उसे कहते हैं जो उत्थान पर अधिकार रखता है। इस प्रकार पृथ्वी के प्रति इन दोनों का उद्याम (उत्थानाधिकार) लक्षित होता है। ये दोनों द्यौ एवं अन्तरिक्ष किस प्रकार के स्वरूप वाले हैं, इस विषय में यहाँ निर्देश किया गया है कि लेला अर्थात् अग्निजिह्वा से ही अन्तरिक्ष का अस्तित्व है तथा अग्निजिह्वा से ही द्यौ का अस्तित्व है। लेला अग्निजिह्वा को कहा गया है। उससे ही इन दोनों का निरन्तर साहचर्य बना रहता है, वही द्यौ के द्योतनशील होने में प्रमाण है। अग्नि के बिना द्योतनशील होना सम्भव नहीं है, अतएव अन्तरिक्ष से ऊपर द्योतमान होने वाला व्योम (आकाश) ही द्यौ है, ऐसा प्रमाणित होता है।

शतपथ ब्राह्मण में अन्य स्थान पर यह भी स्पष्ट किया गया है, कि द्यौ का क्या लक्षण है तथा पृथ्वी का क्या लक्षण है। उनमें सूर्य चन्द्र तारे आदि के समूह द्यौ के लक्षण में प्रामाण्य को वहन करते हैं। वैसे ही अप् अग्नि प्रजा औषधि एवं वन ये पाँच पृथ्वी के लक्षण में प्रामाण्य को वहन करते हैं। इससे द्यौ सूर्य चन्द्र तारा आदि के समूह वाली है तथा पृथ्वी जल अग्नि जीव वृक्ष एवं वनों वाली है यह प्रमाणित होता है। कहा है -

'वे सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों के समूह जिसके नीचे की ओर लक्षण रूप में दिखायी पड़ते हैं, उसे ही मैं 'द्यौ' कहता हूँ। पृथ्वी उसको कहता हूँ जिसके ऊपर की ओर जल अग्नि जीवजन्तु औषधियाँ (वृक्ष सम्पदा) एवं वन दिखायी देते हैं।' (श.1/5/2)

उपर्युक्त प्रमाण से सिद्ध होता है कि जिसके पृष्ठभाग पर सूर्य चन्द्र आदि ग्रह नक्षत्र एवं तारे आश्रित हैं, वही द्यौ कही जाती है। और जिसके पृष्ठभाग पर जल, अग्नि, प्रजा, ओषध्यिाँ एवं वन आश्रय प्राप्त करते हैं वह पृथ्वी कही जाती है। यह दोनों में स्वरूपगत भेद है। सूर्य द्युलोक एवं पृथ्वीलोक दोनों का योजक (सम्बन्ध बनाये रखने वाला) है। दिन में द्यौ सेआकृष्ट सूर्य ही गति करता है। सूर्य की गति के कारण द्यौ अर्धवृत्ताकार प्रतीत होता है तथा पृथ्वी समवृत्ताकार प्रतीत होती है। जैसा कि वहीं शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है :-

यह सूर्य द्युलोक के अभिमुख गति करना आरम्भ करता है, तो उसे सूर्य का उदय (उत्कर्ष) कहते हैं। जब पृथ्वी के अभिमुख गति का आरम्भ करता है, तो सूर्य का अस्त (अपकर्ष) कहते हैं। यही कारण है कि द्यौ हमें अर्धवृत्ताकार दिखायी देता है तथा पृथ्वी दर्पण की भाँति समतल दिखायी देती है। (शतपथ ब्राह्मण - 1/5/5/6)

उपर्युक्त कथन के आधार पर दूसरा स्वरूपभेद दोनों की आकृति के दिखायी देने में स्पष्ट लक्षित होता है। जैसा कि कहा है, यह द्यौ अर्धवृत्ताकार है, जबकि यह पृथ्वी दर्पणतलसदृश आकार वाली है। दर्श दर्पण को कहा गया है तथा उसके तल का अनुकरण करती है, अतः वैसी याने उसके समान कही गयी है। समा का अर्थ है समत्व को प्राप्त अर्थात् समतल भाव को प्राप्त। पृथ्वी द्यौ की भाँति अर्धवृत्ताकार नहीं भासित होती।

दूसरा मत यह है, कि यह दृश्यमान ब्रह्माण्ड दो कपालों में विभक्त है। इनमें ऊपर स्थित कपाल ब्रह्माण्ड के आधे भाग के रूप में दिखायी देने वाला द्यौ है। नीचे स्थित कपाल ब्रह्माण्ड के शेष आधे भाग के रूप में दिखायी देने वाली पृथ्वी है। इस मत का प्रस्तुतीकरण पं. मधुसूदन ओझा महोदय ने अहोरात्रवाद में निम्नानुसार किया है:-

जितना परिमाण वाला क्षेत्र सूर्य से प्रकाशमान दिखायी देता है, वही ब्रह्माण्ड है। सूर्य के द्वारा आधे आधे भाग में विभक्त किया गया होने से ऊपर का आधा भाग द्यौ कहा जाता है। शेष आधा भाग जो रज (धूलिकणों) से घटित है वह पृथ्वी कहा गया है। (अहोरात्रवाद - 3/4)

यहाँ ब्रह्माण्ड को दो कपाल वाला कहा गया है। सूर्य ही इस ब्रह्माण्ड में द्यौ एवं पृथिवी का विभाजक (पृथक् करने वाला) है। सूर्य से भासित ऊर्ध्व कपाल द्यौ कहा गया है तथा सूर्य से भासित अधः कपाल ही पृथ्वी कहा गया है। अर्थात् सूर्य के द्वारा आधे आधे कपाल रूप में ये दोनों द्यौ एवं पृथ्वी आभासित होते हैं। इस विषय में वाजसनेयी श्रुति प्रमाण है। वहाँ ब्रह्माण्डोत्पत्ति के सन्दर्भ में सूर्योत्पत्ति के पूर्व सम्पूर्ण कपालद्वयात्मक ब्रह्माण्ड भाग का पृथ्वी होना भी कहा गया है -

उसी पुरुष प्रजापति ब्रह्मा ने सर्वप्रथम त्रयी विद्या को उत्पन्न किया। वही इसकी प्रतिष्ठा बनी। उस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर उसने तप किया। तत्पश्चात् सर्वप्रथम जल की सृष्टि की। तत्पश्चात् वह इस त्रयी विद्या के साथ जल में प्रवेश कर गया। फिर अण्डरूप में हो गया। तब त्रयी विद्या द्वारा स्वयं ब्रह्मा ही प्रथम उत्पन्न हुआ। यह अग्नि का जो मुख है, वही ब्रह्म है। जो अन्दर गर्म है, वह अग्नि है। जो कपाल था, वह पृथ्वी हो गयी। उसने उस को पीड़ित करते हुए जल में गहरा वेध किया। उससे जो उत्कृष्ट रस क्षरित हुआ, वह कूर्म हो गया। (वाज.सं. - 6/1/1)

वाजसनेयी संहिता के उक्त वचन से पृथ्वी की कपालरूपता प्रमाणित होती है। सूर्योत्पत्ति के पश्चात् जो 'द्यौ' प्रतीयमान हुई, वह कौन थी, इस विषय में पं. ओझा महोदय लिखते हैं :-

रस ही कूर्म है। जहाँ तक रस है वहाँ तक आत्मा है। वही यह कूर्म इन लोकों में अवस्थित है। उस कूर्म का जो नीचे का कपाल है, वह इहलोक (पृथ्वी लोक) है। वह प्रतिष्ठित की भाँति प्रतीत होता है। यह लोक भी प्रतिष्ठित के समान ही है। और जो ऊपर का कपाल है, वह द्यौ है। वह व्यवगृहीतान्त की भाँति प्रतीत होता है। व्यवगृहीतान्त द्यौ से पृथ्वी के बीच का जो भाग है, वह अन्तरिक्ष कहलाता है। (महर्षिकुलवैभवम्/पृ.2)

यहाँ द्यौ को व्यवगृहीतान्त कहा गया है। वृष्टिरहित स्थान को व्यवगृहीत कहते हैं। इस प्रकार - ब्रह्माण्ड के अर्थात् दृष्टिभूत त्रैलोक्य के जिस भाग में वर्षा नहीं होती या नहीं सम्पन्न होती, वह भाग द्यौः संज्ञा को प्राप्त करता है। वह अन्तरिक्ष से ऊपर ही है, क्योंकि अन्तरिक्ष द्यौ एवं पृथ्वी का मध्य भाग है अर्थात् मध्य में स्थित है। पृथ्वी के विषय में जो कहा गया है, कि वह प्रतिष्ठित की भाँति प्रतीत होती है, इस कथन के माध्यम से पृथ्वी की प्रतीयमान स्थिरता को बतलाया गया है।

(शेष अगले अंक में)

विद्या की देवी सरस्वती

गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'
अध्यक्ष, साहित्य सरोवर संस्था, जयपुर

देवीभागवत के पैंतालीसवें अध्याय में सरत्व का अर्थ सरण शीलता किया गया है और इस सरत्व को प्रदान करने वाली देवी सरस्वती है। सदा सरस रहने के कारण भी इन्हें सरस्वती कहते हैं। ये शरत् कालीन पूर्णिमा की शुभ्र कान्ति जैसा वर्ण रखने वाली हैं, अतः इनका नाम शारदा है। वस्तुतः यह सारा दृश्य एवं अदृश्य जगत् बस एक सच्चिदानन्दघन परमानन्दमय ब्रह्म से ही परिपूर्ण है। उन मङ्गलमय परमात्मा की सत्त्वस्था अभिन्ना शक्ति ही शुभ्रा, शारदा, सरस्वती, भारती आदि नामों से जानी जाती है।

भारतीय वाङ्मय की देवता सरस्वती सरस् में झील में रहती है। अतः हंस उनका वाहन है। उसी पर बैठ कर वह तैरती रहती है। उनके हाथों में वीणा है। इस वीणा के मधुर स्वर गूंजते रहते हैं। मूल तत्त्व ध्वनि है। यह ध्वनि एक अनन्त समुद्र है। वाणी सरस्वती है। वर्णमाला वीणा है। उससे निकलने वाले स्वर वाङ्मय कहे जाते हैं। शब्द वक्ता के भावों से कभी मलिन नहीं होते, अतएव सरस्वती का सब कुछ धवल है।

देवों में सर्वप्रथम गणेश जी की पूजा की जाती है, वे ही बुद्धिविधाता हैं। किन्तु बहुत से विद्वानों का मत है कि सरस्वती की वन्दना सर्वप्रथम की जानी चाहिये, क्योंकि यह वाणी की देवी है और बिना वाणी के गणेश जी की भी वन्दना नहीं की जा सकती। तभी तो महाकवि भक्तप्रवर तुलसी ने गणेशजी की वन्दना से पहले वाणी (सरस्वती) की वन्दना की है-

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ।। - रा.च.मानस

इस प्रकार शास्त्रों के अनुसार सरस्वती समस्त आध्यात्मिक अनुष्ठानों की, समस्त देवोपासना की तथा समस्त ज्ञान-विज्ञान के आयामों की अधिष्ठात्री है। इसकी आराधना के बिना अन्य सभी आराधनायें परिपूर्ण नहीं हो पातीं। सरस्वती की पूजा हमारी सभ्य संस्कृति, प्राचीन ज्ञात पूर्वजों की परम्परा एवं गौरवशाली इतिहास से भी हमें जोड़ने का काम करती है। सिन्धु-सरस्वती तट पर बसे हमारे वैदिक काल के पूर्वज सरस्वती नदी को ही माता सरस्वती का लौकिक रूप मानते थे और पूजते थे। इसके ही तट पर जो उपनिषदों के मंत्र गूंजते थे, वे सम्पूर्ण आर्यावर्त को आलोकित करते थे।

'काव्यकौतुक' के लेखक आचार्य भट्ट तौत ने चिन्तन की चार कोटियाँ स्वीकार की हैं - स्मृति, बुद्धि, मति और प्रज्ञा अथवा प्रतिभा। स्मृति वह चिन्तन शक्ति हैं, जो अतीत का स्मरण कराती है। बुद्धि प्रत्यक्ष का ज्ञान कराती है। मति का प्रसार भविष्य के प्रति होता है। चतुर्थी चिन्तनशक्ति प्रज्ञा किंवा प्रतिभा कालातिक्रान्त होती है। इसी प्रतिभा के बल पर कवि कालाजयी मौलिक काव्य की रचना करता है। प्राज्ञ होना, प्रतिभाशाली होना बड़े सौभाग्य की बात है जिसे संस्कृत के काव्यकारों ने विस्तृत रूप से व्याख्यायित किया है। ये सब चिन्तन की योग्यतायें माता सरस्वती की कृपा से ही प्राप्त होती हैं, अत एव प्रत्येक चिन्तक मनीषी इस माता से यही याचना करता है-

मेरे मस्तक निज कर धर दो,
माँ मोपै यह करूणा कर दो।
जीवन सार्थक हो कल्याणी
भारती भव्यभावना भर दो ।।

'मयूरपृष्ठं समधिवसन्ती' के अनुसार कहीं इस माता का वाहन मयूर कहा गया है। तब ही तो सरस्वती के संवाहकों का समादर करते हुए सरस्वतीवाहक मोर के पंख को भगवान् श्रीकृष्ण अपने मस्तक पर धारण करते हैं।

कहते हैं, कि सबसे पहले श्रीकृष्ण भगवान् ने ही माघ शुक्ला पञ्चमी को सरस्वती पूजन किया था। तब से सरस्वती पूजन का प्रचलन वसन्तपञ्चमी के दिन होने लगा। विद्या, काव्य, कला और संगीत की देवी सरस्वती इसी दिन ब्रह्मा के मानस से अवतीर्ण हुई थी, अतः यह वसन्तपञ्चमी सरस्वती जन्मोत्सव के रूप में धूमधाम से मनाया जाता है। 'चैत्र-वैशाखयोः वसन्तः' इस शास्त्रकथन के अनुसार चैत्र और वैशाख माह ही वसन्त ऋतु के हैं, किन्तु माघ पञ्चमी से ही वसन्त की बाट जोहने लगते हैं। प्रकृति भी इन्हीं दिनों से वसन्त ऋतु के आगमन की सूचना देने लगती है। मकर संक्रान्ति से भगवान् सूर्य उत्तरायण हो जाते हैं, तब से ही वसन्त के कदमों की आहट सुनायी देने लगती है। इन्हीं कारणों से माघ शुक्ला पञ्चमी को वसन्त पञ्चमी कहा जाता है। इस पञ्चमी से ही वसन्तोत्सव प्रारम्भ हो जाता है। वसन्त का जो भौतिक रूप मनभावन लगता है, वहीं इसका आध्यात्मिक रूप अधिक सुहाना होता है। इस सुहाने रूप को पाने के लिये सरस्वती की कृपा आवश्यक है। इनकी कृपा पा कर ही सरस्वती के उपासकों में सद्भावों की सद् विचारों की सृष्टि होती है, जिससे वसन्त में खिले पुष्पों की भाँति मन भी प्रसन्न रहता है। फिर इसके अनुग्रह से मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर लेता है -

सरस्वतीं च तां नौमि वागधिष्ठातृदेवताम् ।
देवत्वं प्रतिपद्यन्ते यदनुग्रहतो जनाः।।

अभिनवसंस्कृतरूपकम् – पूर्वशाकुन्तलम्

डॉ. ललितकिशोरशर्मा
प्राचार्यः, अध्यक्षः – साहित्यविभागः
श्रीदिगम्बरजैनाचार्यसंस्कृतमहाविद्यालयः, जयपुरम् (राजस्थानम्)

पूर्वशाकुन्तलं नामधेयम् अभिनवरूपकं ध्वनिरूपकेष्वन्यतममिति मोदावहो विषयः। रूपकमिदम् अभिनवनाट्याचार्यः डॉ.हरिराम-आचार्यो व्यरीरचदिति। सरलसरसरीत्या अभिनवनाट्यप्रयोगेण रूपकमिदं महता वैशद्येन रचयामास आचार्यप्रवरो हरिरामः। संस्कृतज्ञानां ध्वनिरूपके अभिरुचिः स्यादस्मात् कारणात् रूपकमिदं प्राकाश्यमानीतं वर्तते।

संस्कृते ध्वनिरूपकम्

संस्कृते ध्वनिरूपकेषु हम्मीरमर्दनम्, हास्यार्णवप्रहसनम्, जानकीपरिणयम्, आनन्दराघवम्, वासन्तिकस्वप्नम्, लक्ष्मीस्वयंवरम्, दिल्लीसाम्राज्यम्, प्रतापविजयम्, संयोगितास्वयंवरम्, बङ्गीयप्रतापं च अन्यतमानि मुख्यानि नाटकानि सन्ति।

आधुनिकयुगेऽस्मिन् सञ्चारमाध्यमेषु ध्वनिमाध्यमस्य रेडियोयन्त्रस्य आविष्कारेण साकं नाट्येषु अपि अत्यन्तं नवीनो ध्वनिरूपकभेद आविर्भूतः। सञ्चारमाध्यमेषु यथा यथा नूतनक्रान्तिः जाता, तथा तथा सञ्चारजगति सुन्दरतमे नाट्येऽपि नूतना विधाः समयानुरूपसञ्चारसहयोगेन समुपकल्पिताः। दृश्यकाव्यत्वेन प्रसिद्धं चाक्षुषक्रतुरूपेण श्लाघ्यमानं रूपकं श्रव्यकाव्यत्वेन रेडियोमाध्यमेन नवीनेन अवतारेण प्रकटितमभूत्। इतः परं काव्यस्य दृश्यश्रव्यपाठ्यत्वेन त्रयः भेदाः कर्त्तव्याः समपद्यन्त। यदा दूरदर्शनं भारते तावत् प्रसिद्धं नासीत् तदा रेडियोयन्त्रमेव वार्ताः मनोरञ्जकान् कार्यक्रमान् च जनतायाः श्रवणार्थं प्रसारयति स्म प्रसारयति च।

अस्मिन्नेव क्रमे रेडियोतः नाट्यप्रसारणस्य कार्यक्रमा अपि प्रारब्धाः। भरतमुनेः नियमा अपि यथोचितं प्रवर्तिताः। श्रावणप्रत्यक्षमेव रेडियोतः प्रसार्यमाणेषु नाटकेषु जायते इत्यतः तत्र चाक्षुषप्रत्यक्षत्वं न घटते। तत्र शब्दान् ध्वनीन् च आकर्ण्य श्रोता स्वयमेव रूपकस्य श्रावणप्रत्यक्षेण साकं मानसप्रत्यक्षमपि अधिकरोति। इतः परं डॉ.हरिरामाचार्येण उक्तप्रक्रियाम् अनुसृत्य श्रव्यनाट्यानां ध्वनिरूपकाख्यानां विधाविषये तेषु नाट्याङ्गानां समायोजनविषये च कश्चित्

प्रकाशः विधीयते।

ध्वनिरूपकस्य स्वरूपम्

संस्कृते प्राचीनेषु नाटकेषु अपि घटनाया अविच्छेदेन प्रतिपादनाय रसस्य अनुभावनाय च अपेक्षितो घटनाविशेषो यदि दर्शयितुं न शक्यते, तदा तत्र अत्याज्यस्य मुख्यभूतस्य परन्तु अदर्शनीयस्य घटनाविशेषस्य तस्य प्रस्तुत्यै प्राचीनैः नाट्यविद्भिः अर्थोपक्षेपकाः कल्पिताः। सूचनीयस्य अर्थस्य केवलं वाचः माध्यमेनैव सूचनं यत्र क्रियते तत्र अर्थोपक्षेपकः भवति। अयं च अर्थोपक्षेपकः विष्कम्भ-प्रवेशक-चूलिका-अङ्कास्य अङ्कावतारभेदैः पञ्चधाः विभक्तः। इत्थं सत्यपि पञ्चषु भेदेषु नाटकीयपात्रद्वारा नेपथ्यवर्तिना पात्रेण वा यत्र अर्थः सूच्यते न तु अभिनयादिना प्रदर्श्यते तत्र अर्थोपक्षेपकः भवति। तत्र नेपथ्यगतैः पात्रैः प्रदीयमाना तत्संवादारूढा सूचना चूलिका भवति। इयञ्च चूलिका अधुना प्रसिद्धया ध्वनिरूपकस्य विधया सामीप्यं भजते। ध्वनिरूपकेऽपि सर्वमपि नाटकीयं प्रमेयम् अचाक्षुषं श्रावणं भवति। अतः ध्वनिरूपकं 'नेपथ्यकथनवाचिकमिति' डॉ.हरिरामाचार्यैः उक्तम्। अस्य च ध्वनिरूपकस्य केचन विशेषाः तैरेव आचार्यैः गणिताः। ते अत्र तथैव प्रस्तूयन्ते।

- रेडियो इति ध्वनियन्त्रमाध्यमेनैव विषयीकर्तुं शक्यं ध्वनिरूपकं रेडियोनाट्यं वा श्रव्यमेव भवति।
- नाट्यस्य अन्यासु विधासु इव ध्वनिरूपकस्य विधायां रङ्गमञ्चस्य अपेक्षा एव नास्ति। अत्र तु स्टूडियो-इत्यस्य एव अपेक्षा वर्तते। रङ्गमञ्चे पात्राणि प्रत्यक्षताम् उपगत्य अभिनयं कुर्वन्ति। ध्वनिरूपके तथा कर्तुमेव न शक्यते। अत्र तु स्टूडियोकक्षे वाचा-अभिनीतस्य ध्वन्यङ्कनयन्त्रैः समारक्षितस्य नाट्यस्य यद्रूपं तत् प्रसारणयन्त्रैः प्रसार्यते रेडियोयन्त्रेण गृह्यते श्रोतृभिश्च श्रूयते।
- ध्वनिरूपके मञ्चस्य अभावाद् मञ्चसज्जायाः पात्राणां दर्शनाभावात् रूपसज्जाया वस्त्रसज्जायाश्च आवश्यकता नास्ति। काव्यस्य कथोपकथनरूपेण लिखितस्य वाचा एव प्रस्तुतीकरणम् अत्र क्रियते।
- वाचिकाभिनयो वाक्प्रधानो भवति। तत्र पात्रानुसारिणी भाषा प्रयुज्यते। भाषाया उद्गारो न केवलम् अभिनेतुः उच्चारणसौष्ठवसहित एव स्यात् अपितु अभिनीयमानस्य पात्रस्य स्वरूपं चरित्रं भावश्च पटुतया स अभिव्यञ्जयितुं क्षमेत।
- ध्वनिरूपके दृश्यपरिवर्तनस्य पटपरिवर्तनस्य वा पटाक्षेपस्य जवनिकापातस्य वा आवश्यकता नास्ति। सङ्गीतमाध्यमेनैव दृश्यपरिवर्तनं तत्र विज्ञाप्यते।

- अभिनीयमानं दृश्यं रसाभिव्यञ्जकं कथ्यमानः संवादः प्रभावशाली घटनां भावं रसं च अनुगतः स्यात् इत्येतदर्थं ध्वनिरूपके सङ्गीतस्य अपेक्षा नाटकस्य विधान्तरापेक्षया अधिका। शोकसूचकं हर्षसूचकं हास्यसूचकं भिन्न-भिन्नं सङ्गीतकम् अवसरमनुसृत्य प्रयुज्यते।
- पृष्ठध्वनिः ध्वनिरूपकस्य स्वरूपघटकं तत्त्वं भवति। विना पृष्ठध्वनिं ध्वनिरूपकस्य कल्पना एव नैव कर्तुं शक्या। तत्र पवनवेगः, रेलयानादिध्वनिः, मेघगर्जनम्, अश्वखुरध्वनिः, जनकोलाहलः, शिशुरोदनम्, विस्फोटः, भाण्डपतनम्, कलरवः, तूर्यनादः, विगुलवादनम्, नूपुरझङ्कारः, श्वमार्जारादिक्रन्दनम् इत्येतानि सर्वाणि पृष्ठध्वनिमाध्यमेनैव संसूच्यन्ते।
- रङ्गमञ्चस्य परिधौ अभिनयार्थं नियतस्य स्थानस्य नियतस्य समयस्य नियतानां क्रियाणां च यो अन्वयो भवति, तस्य अपेक्षा ध्वनिरूपके नास्ति।
- डॉ.हरिरामाचार्यवर्यैः अनुल्लिखितः, अपरो विशेषो यद् ध्वनिरूपकम् एकस्मिन्नेव समये अनेकत्र विद्यमानैः रसिकैः आस्वादयितुं क्षमं भवति। अत्र गृहं परित्यज्य रङ्गमञ्चादिकं प्रति गमनस्य आवश्यकता सर्वथा नास्ति।
- ध्वनिरूपके अनेकपात्रापेक्षिणः अपि नाट्यस्य अनेकविधं भाषितुं क्षमेण एकेनैव पात्रेण अभिनयं कर्तुं शक्यते। यच्च नाटकस्य इतरासु विधासु असम्भवी।
- एकवारं कृतेनैव अभिनयेन अनेकवारं सहृदया आराध्यन्ते। अत्र अभिनयसमकालमेव नाट्यानुभवं कर्तुं प्रायः न शक्यते।
- अनेककारणवशात् गृहात् बहिर्गन्तुम् अशक्ता अपि रसिकाः जनाः गृहकर्माणि कुर्वन्तः एव गृहे स्थित्वा ध्वनिरूपकम् आस्वादयितुं शक्नुवन्ति।
- ध्वनिरूपके पात्राणां वयोनुरूपं स्वरूपानुरूपं च अभिनेतृणाम् अपि वयः स्वरूपं च अनपेक्षितं भवति। स्वरेणैव तत्कार्यम् अत्र सम्पाद्यते।

इत्थम् इदं ध्वनिरूपकं केवलं श्रवणयोः अमृतं सिञ्चत् रेडियोमाध्यमेनैव श्रोतुं शक्यम्।

नामकरणम्

अत्र भारतनिर्मातुः भरतस्य जनन्याः उत्पत्तिकथा वर्ण्यते। तदुक्तं नेपथ्यकथने ग्रन्थकृता एव 'सा एव शकुन्तला भारतस्य निर्मातुः सर्वदमनस्य दौष्यन्तेः भरतस्य जननीभूता इति पूर्वशाकुन्तलस्य कथानक' मिति।

उपजीव्यता

कविवरस्य डॉ.हरिराम-आचार्यस्य कृतिषु पूर्वशाकुन्तलम् अन्यतमम् । इयं कृतिः न स्वतन्त्रा परन्तु पूर्वम् एभिः आकाशवाणीतः प्रसारणार्थं विरचितानां ध्वनिरूपकाणां सङ्कलनरूपा एव। अर्थात् आकाशवाणीतः प्रसारणार्थं लिखितं तथापि तद्रूपकम् एकाङ्कनाटकशैल्या मञ्चेऽपि अभिनीतम्।

रूपकमिदं प्रायो मिश्रकोटौ अन्तर्भवति। यद्यपि कविः इतिहासप्रसिद्धानि पात्राण्यपि स्वकीये रूपके योजयति तथापि प्रायः कथाचक्रं कथोपकथनादिकं कवेः मौलिकमेव। एतद् रूपकम् अभिनवविधानेन रचितम् । अत्र रूपके प्रयुक्तस्य नाट्यविधेः उल्लेखः स्वरूपं लक्षणं वा नाट्यशास्त्रे तत्प्रकरणभूतेषु इतरेषु अपि ग्रन्थेषु नास्ति। अत्र च कारणम् आकाशवाणीतः अस्य रूपकस्य प्रसारणम् अधुनातनस्य एव युगस्य परिणामः। अतः अत्र प्रयुज्यमानाः विधयः आकाशवाणीद्वारा प्रसारणे अनुकूलया शैल्या पुराकाले अप्रयुक्तया एव भवन्ति। अस्य ध्वनिरूपकस्य प्रसिद्धं नाम रेडियोनाटकम् इति। नाटकस्यास्य नाटकीयनिर्देशः अपि ध्वनिमाध्यमेनैव क्रियन्ते। पार्श्विकं सङ्गीतं ध्वनिभावाश्च संवादानुसारिणः सन्तः नाट्यनिर्देशानां न्यूनतां पूरयन्ति। अत्र वाचिकाभिनय एव प्रधानो भवति। येनैव अभिनयस्य अन्ये अपि विधयः प्रकट्यन्ते। अस्मिन् सन्दर्भे ग्रन्थकर्तुः डॉ.हरिरामाचार्यस्य इमे शब्दाः सन्ति - **'यत्र तत्र आवश्यकतानुसारं स्वप्नशैली, अनुगुञ्जनम्, विगताख्यानम्, मौनम्, घटनावली(मोन्ताज), वाचकप्रयोगः इति विविधानां रेडियोनाटकशिल्पानां प्रयोगः प्रभावान्वितिसंयोजनाय क्रियते'** [1] इति।

पूर्वशाकुन्तलम्

अभिज्ञानशाकुन्तलमिति नाटकं महाकविकालिदासविरचितं विश्वप्रसिद्धं वर्तते। तत्र शकुन्तलाया युवत्याः कथानकं कविना वर्णितम्। अभिज्ञानशाकुन्तले वर्णितात् शकुन्तलायाः चरितात् पूर्वतनं भागं स्वीकृत्य कविः अत्र नाटकस्य पीठिकां निर्माति। अत्र विद्यमानं कथानकं पद्मपुराणे महाभारते च विद्यते। विश्वामित्रस्य जीवनस्य कतिपये अंशाः श्रीमद्वाल्मीकीरामायणेऽपि सन्ति।

प्रमुखपात्रपरिचयः

इन्द्रः - मेनकायाः प्रभुः

पवनः - इन्द्रस्य सहायकः

मेनका - नायिका

विश्वामित्रः - ऋषिः, नायकः

माधवः - वसन्तर्तुः

कामदेवः - मेनकायाः सहायकः, इन्द्रपरिचरः

माधविका - मेनकासखी **कण्वः** - शकुन्तलायाः पोषकः ऋषिः

शार्ङ्गरवः - कण्वपुत्रः

अभिज्ञानशाकुन्तले नायको दुष्यन्तो नायिका च शकुन्तला, परन्तु पूर्वशाकुन्तले नायकः राजर्षिः विश्वामित्रः नायिका च देवाङ्गना मेनका। अत्र नायकः धीरोद्धतस्य गुणैः युक्तः अपि ब्राह्मणत्वात् धीरशान्तकोटौ निवेशयितुमर्होऽपि धीरोदात्तः एव पर्यन्ततः तस्य स्वभावादिसमालोचने प्रतीयते।

विश्वामित्रः तपोधनः महर्षिः कुशिकानां कुले जातः। अयं दृढसङ्कल्पः सुखभोगिनां वृथाभिमानिनां देवानाम् आतङ्करः हठी आश्चर्यचेष्टितः नियमातिक्रामी च कविना वर्णितः। विश्वामित्रस्य नाम श्रुत्वैव देवराजः इन्द्रः भीतो भवति। पवनः तं विश्वामित्रं -

शौचार्थं यो नदीं चक्रे दुर्गमां बहुभिर्जलैः।

यां तां पुण्यतमां लोके कौशिकीति विदुर्जनाः॥ [2]

इति नदीकर्तृत्वेन तं स्मरति इन्द्रश्च तं बलेन प्राप्तं ब्राह्मणभावं स्मरति। उक्तं हि -

महाभागं वसिष्ठं यः पुत्रैरिष्टैर्व्ययोजयत्।

क्षत्रजातश्च यः पूर्वमभवद् ब्राह्मणो बलात्॥ [3]

इत्थं गुरुशापेन नष्टश्रियः त्रिशङ्कोः नक्षत्रसम्पदाशरणं दत्त्वा विश्वामित्रः लोके ख्यातकीर्तिः जातः। अपि च मतङ्गं याजयित्वा सः स्वकीयमन्तःकरणमेव धर्माधर्मयोः प्रमाणं मेने। विश्वामित्रः गम्भीरः दृढव्रतश्च ज्ञायते। अत एव तं तपसः निवर्तयितुं देवाः बहूनुपायान् चिन्तयन्ति। इतश्च विश्वामित्रः तपसः च्युतेः अभितः सन् इन्द्रस्य कुटिलं यन्त्रं विदन्नपि पराधीनां शरणागतां मेनकाम् अङ्गीकृत्य तां स्वप्रणयेन वशीकरोति च। तस्याः गर्भधारणचिह्नेन तां सगर्भां ज्ञात्वा पुनः विच्छिन्नमोहपाशः यथायथं तपश्चरणार्थम् एकाकी मेनकाम् असूचयित्वैव वनं गच्छति।

इत्थं विश्वामित्रः अत्र दृढः व्यक्ताहङ्कारोऽपि छलमायादिविरोधी कठोरसङ्कल्पः कठोरव्रतश्च धीरोदात्त एव नायकः गणयितुं शक्यः।

मेनका अत्र पूर्वशाकुन्तले नायिका सा दिव्या नायिका अस्ति। एषा देवराजस्य वाराङ्गनासु ललामभूता इति स्वयम् इन्द्रः कथयति। विश्वामित्रस्य तपोभङ्गाय बलवत्तरप्रलोभनरूपेण मेनका चित्रिता।

अत्र उक्तं पवनेन विश्वामित्रसदृशस्य दृढसङ्कल्पधनस्य महर्षेः तपोभङ्गाय प्रलोभनमपि बलवत्तरमपेक्ष्यते इति। इन्द्रश्च अप्सरसां ललामभूता मेनका अत्र अपेक्ष्यते इति मेनकां वर्णयति। पुनश्च -

गुणैरप्सरसां दिव्यैः मेनके त्वं विशिष्यसे।

श्रेयो मे कुरु कल्याणि यत् त्वां वक्ष्यामि तत् शृणु॥

इति मेनकां स्तौति च। मेनका इत्थं परमसुन्दरी अपि सौन्दर्यमदरहिता कर्तव्यस्य कर्मणः कठोरतां गम्भीरतां च विदन्ती कृत्यस्य साफल्याय उपायान्तराण्यपि सहायान्तराणीव देवराजं याचते। सा विश्वामित्रस्य तपसस्तेजः सम्यक्जानाति। तत्र विश्वामित्रेण इन्द्रप्रेषितः आत्माज्ञातः इति जानन्ती सद्य एव क्षमायाचनां करोति। इत्थम् आतङ्कमय्यामपि अवस्थायां कर्त्तव्यात् अस्खलन्ती साम्ना शरणवरणेन च ऋषिम् अनुकूलयितुं यतते। तत्र सफला च भवति। तत्र वदति सा क्षम्यतां ममापराधः अहम् नारी समर्पितभावेन आत्मानं निवेदयन्ती अभीप्सितार्थसिद्धिं कामये इति।

इत्थं छलकर्मणि नियुक्ताऽपि निश्छला पवित्रहृदया स्पष्टवाक् मेनका प्रगल्भाकोटौ अन्तर्भवति। प्रगल्भायाश्च लक्षणमिदं -

स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा।

भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायिका ॥[4]

तत्र वस्तु किञ्चिद्विलक्षणं विद्यते। आधिकारिकं प्रासङ्गिकमिति वस्तु द्विविधं भवति। अधिकारिणा निर्वर्ण्यं वस्तु आधिकारिकमुच्यते। अधिकारी च फलस्वामी एव। उक्तं हि -

'अधिकारः फलस्वाम्यमिति' [2]

अत्र नायकेन विश्वामित्रेण किमपि फलं विशेषरूपेण अधिकृतम् न प्रतीयते, प्रत्युत सः देवेन्द्रस्य कूटनीतिं विजानन्नपि शरणागतत्वेन मेनकामङ्गीकृत्य स्वस्य तपसः स्खालित्यमेव करोति। इत्थमत्र नायकस्य फलं किम् इत्यत्र महती जिज्ञासा भवति। गहने विचारे क्रियमाणे इदं प्रतीयते यद् लोकोपकारः एव अत्र अलम्। यद्यपि लोकोपकाररूपं फलम् उपकर्तुः न भवति, तथापि अत्र स्वार्थान् परार्थे एव सम्पादयतः विश्वामित्रसदृशस्य ऋषिप्रवरस्य अपि लोकहितमेव फलमिति मन्तव्यम्। लोकहितञ्च अत्र स्वकीयस्य तपसः भङ्गेन अपि शरणागतायाः मेनकायाः प्रणययाचनास्वीकरणमेकम् अन्यत् प्रमुखं प्रयोजनं भारतभुवः भाविनः स्वामिनः कृते गर्भधारणक्षमक्षेत्रोत्पादनञ्च।

इत्थं लोकोपकाररूपफलस्वाम्यस्य विश्वामित्रे सत्त्वात् इदम् आधिकारिकमितिवृत्तम्।

अस्मिन्नाटके पञ्च पुरुषपात्राणि स्त्रीपात्रद्वितयञ्च सन्ति। इन्द्रः पवनः शार्ङ्गरवः कण्वः विश्वामित्र इति पञ्च पुरुषाः, मेनका माधविका चेति स्त्रीद्वयम्। अस्मिन्नाटके कविना प्राचीनानि पद्यानि सन्दर्भानुगुणं तत्र तत्र निवेशितानि। यथा विश्वामित्रनिकटात् मेनकां स्वर्गम् आगन्तुम् इन्द्रस्य आदेशेन आगता माधविका विक्रमोर्वशीयस्थं श्लोकं वदति -

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता
मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥[6]

तथा प्रातः उत्थितः कण्वः शार्ङ्गरवम् उद्दिश्य प्रभातवेलां सूचयन् अभिज्ञानशाकुन्तलस्थं पद्यं वदति **'यात्येकतोऽस्तशिखरम्'**[7] इति। एवमेव शिशुं शकुन्तलाम् एकाकिनीं दृष्ट्वा कण्वः शङ्कराचार्यस्य पद्यं वदति -

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥ [8]

अस्मिन्नाटके कदाचित् शृङ्गाररसः, कदाचित् वीररसः प्रधानतया दृश्यते परन्तु पार्यन्तिकः अत्र रसः वीर एव शृङ्गारस्तु गुणीभूत एव। आऽन्तं तस्य कविना अनिरूढत्वात् विश्वामित्रस्य मेनकायां रागाभावस्य वर्णनाच्च तपोनियमभङ्गेनापि धर्मान्तरसन्निपातबुद्ध्या मेनकासम्भोगात् अत्र नायकनिष्ठारतिः धर्मोत्साहे गुणीभूता। मेनकायाः अपि देवेन्द्रनियोगादेव विश्वामित्रसमीपम् आगमनात् पुनः तन्नियोगादेव तत्समीपगमनात् अस्याः रतेः प्रभुनियोगोपसर्जनतया न प्राधान्यम्। अतः अत्र वीररसः एव प्रधानम्।

सन्दर्भाः

1. पूर्वशाकुन्तलम् - पूर्वभाष्ये।
2. पूर्वशाकुन्तलम् - पृष्ठसंख्या-2
3. तत्रैव।
4. साहित्यदर्पणम् - तृतीयः परिच्छेदः - कारिका संख्या - 6

5. दशरूपकम् - 1/12 (पृ.-8)

6. विक्रमोर्वशीयम् - 2/18 (पृ.-75)

7. अभिज्ञानशाकुन्तलम् - 4/2

8.. मुकुन्दस्तोत्रम् - (शङ्कराचार्यविरचितम्)

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. कठोपनिषद् - लेखकः - डॉ.राजेन्द्रप्रसादशर्मा, प्रकाशनम् - राजस्थानविश्वविद्यालय एवं जगदीशसंस्कृतपुस्तकभण्डार, जयपुरम्, वर्षम् - 2006

2. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सम्पादकः - निरूपणविद्यालङ्कारः, प्रकाशनम् - साहित्यभण्डारः, मेरठम्, प्रकाशनवर्षम् - 1962

3. दशरूपकम् - सम्पादकः - प्रो.रामजीलालउपाध्यायः, प्रकाशनम् - भारतीयविद्यासंस्थानम्, वाराणसी, वर्षम् - 2000

4. विक्रमोर्वशीयम् - सम्पादकः - अखण्डानाथझा एवं अखिलेशपाठकः, प्रकाशनम् - प्रकाशनकेन्द्रम्, लखनऊ।

5. पूर्वशाकुन्तलम्, लेखकः - डॉ.हरिरामआचार्यः, हंसाप्रकाशनम्, जयपुरम्, वर्षम् - 2002

6. संस्कृत साहित्य का इतिहास , लेखकः - श्रीरामचन्द्रमिश्रः, प्रकाशनम् - चौखम्बाविद्याभवनम्, वाराणसी, वर्षम् - 2013

7. संस्कृतवाङ्मयकोषः, सम्पादकः - डॉ.भास्करवर्णेकरः, प्रकाशनम् - भारतीयभाषापरिषद्, शेक्सपियरसरणि, कोलकाता, वर्षम् - 1980

8. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, लेखकः - डॉ.कपिलदेवद्विवेदी, प्रकाशनम् - रामनारायणलाल विजयकुमार, इलाहाबाद, वर्षम् - 2002

9. नाचिकेतकाव्यम् , लेखकः - हरिरामआचार्यः, प्रकाशनम् - लिटरेरीसर्किल, जयपुरम्, वर्षम् - 2008

10. नाट्यशास्त्रम्, लेखकः - प्रो.राधावल्लभत्रिपाठी, प्रकाशनम् - प्रतिभाप्रकाशनम्, दिल्ली, वर्षम् - 1999

उर्मिला

राम की कथा में सबको पद प्रतिष्ठा यश मिला ।
पर उपेक्षित रही सदा लखन की उर्मिला ।।

राम वन को जब चले तो जानकी भी चल पड़ी
उर्मिला बिचारी देखती रही खड़ी-खड़ी
तब लखन ने आ कहा कि 'है परीक्षा अब तेरी
'ध्यान अब तुम ही रखोगी मांओं का प्रिये मेरी'
चल पड़े लखन भी उसको विरह का गरल पिला।
पर उपेक्षित रही सदा लखन की उर्मिला।।

किस तरह दिवस कटे वे रातें किस तरह कटी
कौन जानता है उर्मिला कहाँ-कहाँ बँटी
तन का कोयला किया वो बावरी सी हो गई
आंसुओं को पीते पीते वो सुध भी खो गई
और कभी किसी से भी किया नहीं कोई गिला।
पर उपेक्षित रही सदा लखन की उर्मिला ।।

पंथ वो दिखा गई सबक कई सिखा गई
कौल जो लखन से थे वो कौल भी निभा गई
त्याग सेवा धर्म की बनी वो इक शिला प्रबल
उस महावियोगिनी को समझना कहाँ सरल
उर्मिला वही समझ सके जो बने उर्मिला।
उर्मिला वही समझ सके जो बने उर्मिला।।

-धनराज दाधीच

भारतीय वाङ्मय एवं शिक्षक-शिक्षार्थी संकल्पना

श्रीमती नेहा शर्मा
जयपुर

भारतीय वाङ्मय

भारतीय वाङ्मय अर्थात् वह साहित्य जिसमें वैदिक परम्परा का अनुसरण हुआ हो तथा वेद को उपजीव्य मान कर ग्रन्थलेखन किया गया हो, ऐसे साहित्य को ही भारतीय वाङ्मय की संज्ञा से अलंकृत किया गया है। भारतीय वाङ्मय में वेद, आदिकाव्य रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, उपनिषद्, पुराण, दर्शन, हिन्दी साहित्य, अंग्रेजी साहित्य, प्राकृतभाषा साहित्य इत्यादि अनेक रचनाओं का समावेश किया जाता है।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी संकल्पना

मनुष्य की अन्तर्निहित अज्ञानता के आवरण को शिक्षा द्वारा हटा कर पूर्णता को अभिव्यक्त करने वाले को शिक्षक की संज्ञा दी जाती है। आदर्श शिक्षक की भारतीय संकल्पना को उजागर करने के लिए शिक्षक के स्वरूप, शिक्षण-विधि तथा शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध आदि प्राचीन भारतीय शैक्षिक संदर्भों के साथ वर्तमान समय में उसकी उपयोगिता का उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

शिक्षक शब्द में शिक्षक का अर्थ गुम्फित है। 'वैदिक सम्पत्ति' नामक पुस्तक में प्रतिपादित शिक्षक शब्द में निहित अक्षरार्थ को ध्यान में रखते हुए शिक्षक के लिए हम कह सकते हैं, कि ऐसा व्यक्तित्व जो स्वयं ज्ञान की पूर्णता एवं व्यापकता को प्राप्त कर अज्ञानता का नाश करते हुए ज्ञान का प्रकाश कर दूसरों को प्रभावशाली ज्ञानवान और सुखी बना सके। प्रायः इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति भारतीय वाङ्मय में विद्वानों ने अपनी-अपनी तरह से प्रस्तुत की है। महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक ग्रन्थ में लिखा है कि -

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ।।[1]

अर्थात् किसी शिक्षक में तो स्वयं उत्तम गुण की पात्रता होती है और किसी शिक्षक को दूसरे को वह गुण सिखाने में विशेष प्रवीणता होती है। जिसमें दोनों ही विशेषताएँ हों, वही शिक्षकों में सर्वश्रेष्ठ माना जाना चाहिए।

'शिक्षणं करोति यः सः शिक्षकः' जो शिक्षण, सीखने-सिखाने का कार्य करता है, वह शिक्षक है। शिक्षक के लिए आचार्य, उपाध्याय, उपदेशक, गुरु आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

शिक्षक अर्थात् गुरु-शिष्य परम्परा आध्यात्मिक प्रज्ञा का नई पीढ़ियों तक पहुँचाने का सोपान। भारतीय संस्कृति में गुरु-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत शिक्षक (गुरु) अपने शिक्षार्थी को शिक्षा देता है या कोई विद्या सिखाता है। बाद में वही शिक्षार्थी शिक्षक के रूप में दूसरों को शिक्षा देता है। यही क्रम चलता जाता है। यह परम्परा सनातन धर्म की सभी धाराओं में मिलती है। शिक्षक-शिक्षार्थी की यह परम्परा ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में हो सकती है, जैसे- अध्यात्म, संगीत, कला, वेदाध्ययन, वास्तु आदि। भारतीय संस्कृति में शिक्षक का बहुत महत्व है। कहीं शिक्षक अर्थात् गुरु को ''ब्रह्मा-विष्णु-महेश'' कहा गया है, तो कहीं 'गोविन्द'।

'गु' शब्द का अर्थ है अंधकार (अज्ञान) और 'रु' शब्द का अर्थ है प्रकाश या ज्ञान। अज्ञान को नष्ट करने वाला जो ब्रह्म रूप प्रकाश है, वह गुरु है। आश्रमों में गुरु-शिष्य परम्परा का निर्वाह होता रहा है। भारतीय संस्कृति में गुरु को अत्यधिक सम्माननीय स्थान प्राप्त है। भारतीय इतिहास में गुरु की भूमिका समाज को सुधार की ओर ले जाने वाले मार्गदर्शक के रूप में होने के साथ क्रान्ति को दिशा दिखाने वाली भी रही है। अर्हद्गीता में गुरु अर्थात् शिक्षक को दिग्मण्डल के समान उपमा दी गयी है -

गुरुर्नेत्रं गुरुर्दीपं सूर्याचन्द्रमसौ गुरुः।
गुरुर्देवो गुरुः पन्था दिग्गुरुः सद्गतिर्गुरुः।।[2]

अर्थात् संसार में गुरु ही नेत्र है, गुरु दीप है, गुरु सूर्य-चन्द्र है, गुरु ही देवता है, गुरु ही सन्मार्ग है, गुरु ही दिग्मण्डल है तथा गुरु ही सद्गति स्वरूप माना गया है। जैसा कि भारतीय संस्कृति में विदित है कि गुरु का स्थान ईश्वर से भी ऊपर माना गया है -

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

प्राचीन काल में शिक्षक और शिक्षार्थी के संबंधों का आधार था शिक्षक का ज्ञान, मौलिकता और नैतिक बल, उनका शिष्यों के प्रति स्नेह भाव, तथा ज्ञान बांटने का निःस्वार्थ भाव, शिक्षक में होती थी गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा, गुरु की क्षमता में पूर्ण विश्वास तथा गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण एवं आज्ञाकारिता, अनुशासन शिष्य का सबसे महत्वपूर्ण गुण माना गया है।

शिष्य अर्थात् छात्र, अन्तेवासी एवं विद्यार्थी माना जाता है। दीक्षातत्त्व और तन्त्रसार में शिष्य का लक्षण इस प्रकार कहा गया है -

''जो वाक्य, मन, काय और धन द्वारा गुरु शुश्रू में रत रहते हैं, वैसे गुणविशिष्ट व्यक्ति ही शिष्य कहलाते हैं। अर्थात् मन, वाक्य, काय और कर्म द्वारा देवता और गुरु की जो शुश्रू करते हैं तथा सर्वदा शुद्धभाव और महोत्साह युक्त होते हैं, वे भी शिष्य के योग्य हैं।[3]''

शिष्यत्व यानी जिज्ञासा (बोध की उत्कट इच्छा) स्वरूप की खोज की छटापटाहट, आकुलता। जिज्ञासा और अनुभूति का जो मिलन होता है, वही शिक्षक और शिष्य का मिलन है। आचार्य चाणक्य ने शिष्य के धर्म के विषय में कहा है, कि शिष्य को शिक्षक की इच्छा का अनुवर्ती होना चाहिए - 'गुरुवशानुवर्ती शिष्यः।[4]'

शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच केवल शाब्दिक ज्ञान का ही आदान प्रदान नहीं होता था, बल्कि शिक्षक अपने शिक्षार्थी के संरक्षक के रूप में भी कार्य करता था। उसका उद्देश्य रहता था, कि शिक्षक उसका कभी अहित सोच भी नहीं सकते। यही विश्वास शिक्षक के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा और समर्पण का कारण रहा है। आचार्य मनु ने मनुस्मृति में बताया है, कि किस प्रकार के शिष्यों को शिक्षक अध्यापन करावें -

अध्येष्यमाणयथाशास्त्रस्त्वाचान्तो ह्युदङ्मुखः।
ब्रह्मांजलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः।।[5]

अर्थात् शिक्षक से पढ़ने की इच्छा वाला शिष्य शुद्ध वस्त्र धारण कर, शास्त्रोक्त विधि से आचमन करके उत्तर दिशा में मुँह करके जितेन्द्रिय होकर ब्रह्मांजलि करके शिक्षक के समीप बैठे और ऐसे शिष्य को शिक्षक अध्यापन करावे।

भारतीय वाङ्मय में आदर्श शिक्षक के गुण[6] -

- शिक्षक का ज्ञान एवं कार्य-व्यवहार आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित हो।
- शिक्षक को अपने विषय का सम्यक् ज्ञान हो।
- शिक्षक को अपने विषय के अतिरिक्त अन्य विषयों तथा परिवेश आदि का भी ज्ञान हो।
- शिक्षक यज्ञीय भाव के साथ शिक्षण सम्पादित करे।
- शिक्षक को बाल मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान हो।
- शिक्षक यौगिक साधना से युक्त हों।

- शिक्षक में जीवन पर्यन्त जिज्ञासु बने रहने का भाव हो।
- शिक्षक में अपने दोषों को स्वीकारने का भाव हो।
- शिक्षक में अभिव्यक्ति की क्षमता हो।
- शिक्षक का अनुकरणीय आचरण हो।
- शिक्षक की वाणी मधुर हो तथा वह शान्त विनम्र स्वभाव वाला हो।
- शिक्षक की स्वाध्याय में निरन्तरता हो।
- शिक्षक में निरन्तर स्व मूल्यांकन का भाव हो।

कामन्दकीय नीतिसार में शिक्षक के लिए अनुशासित होना अत्यावश्यक है, क्योंकि वह शिक्षार्थी के लिए जीता जागता उदाहरण है। शिक्षार्थी अध्यापक को देख कर ही अनुशासित रहना सीखता है। इस कारण सर्वप्रथम मन को नियंत्रण में रखना चाहिए -

विषयामिष लोभेन मनः प्रेरयतीन्द्रियम्।

तन्निरुन्ध्यात्प्रयत्नेन जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥[7]

विषयभोग की लालसा से मन ही इन्द्रियों को प्रेरित करता है। इन्द्रियों का विषयों से योग न होने देना ही इन्द्रियनिग्रह है, इस कारण यत्नपूर्वक मन को नियंत्रित रखना चाहिए। मन की विजय से ही इन्द्रियविजय का मार्ग प्रशस्त होता है-

प्रकीर्णविषयारण्ये धावन्तं विप्रमाथिनम्।

ज्ञानांकुशेन कुर्व्वीत वश्यमिन्द्रियदन्तिनम्॥[8]

विषयरूपी विशाल अरण्य में दौड़ते हुए इन्द्रियरूपी विक्षुब्ध हाथी को ज्ञानरूपी अंकुश से नियंत्रित कर लिया जाता है, अतः सांसारिक कष्टों से युक्त मार्ग में भटके हुए मनुष्य भी शास्त्रज्ञान द्वारा इन्द्रियों का निग्रह करते हुए अपने मन को नियन्त्रित कर लेते हैं। यदि शिक्षक इन्द्रियों को अनुशासन में नहीं रखेगा, तो वह लौकिक या आध्यात्मिक जगत् में कोई भी कार्य उचित प्रकार से नहीं कर सकता ।

शिष्य का शिक्षक के प्रति आदरभाव अपेक्षित

भारतीय वाङ्मय में एक शिष्य का शिक्षक प्रति सम्मान व आदर का भाव किस प्रकार होना चाहिए, इसका वर्णन करते हुए आचार्य मनु ने मनुस्मृति में विस्तार से उल्लेख किया है। शिष्य के आचरण के विषय में मनु लिखते हैं -

आसीनस्य स्थितिं कुर्यादभिगच्छँस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावँस्तु धावतः।।[9]

अर्थात् यदि शिक्षक बैठे हों तो स्वयं उठ कर, खड़े हों तो सामने जा कर, आते हों तो सम्मुख चल कर, चलते हों तो उनके पीछे दौड़ कर, शिक्षक की बात सुननी चाहिए।

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम्।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः।।[10]

अर्थात् शिक्षक मुहँ फेर कर खड़े हों तो सामने जा कर, दूर हों तो समीप जा कर, लेटे हों तो प्रणाम कर, समीप बैठे हों, तो सिर नीचे करके या झुक कर बात को सुने।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्।।
गुरोर्यत्र परिवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः।।[11]

अर्थात् शिष्य को परोक्ष में शिक्षक का नाम लेकर भी सम्बोधित नहीं करना चाहिए, अपितु चलने, फिरने, बोलने या किसी प्रकार की शारीरिक चेष्टा की नकल भी नहीं करनी चाहिए। साथ में जहाँ शिक्षक का उपहास अथवा निन्दा होती हो, वहाँ कानों को बन्द कर लें अथवा कहीं अन्यत्र चले जाएँ।

शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध

भारतीय वाङ्मय में शिक्षक तथा शिक्षार्थी का सम्बन्ध आदर्श होने के कारण अनुकरणीय रहा है। प्रायः माता-पिता ही बालक के प्रथम शिक्षक माने जाते हैं, किंतु वैदिक काल में भारत में पिता का स्थान शिक्षक को ही प्राप्त था। प्राचीन काल में शिक्षक-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र के समान था[12] । नीतिवाक्यामृत में कहा भी है - ''पितरमिव गुरुमुपचरेत्।''[13] अर्थात् शिष्य शिक्षक के साथ पिता के समान व्यवहार करे।

शिक्षक शिक्षार्थी का आध्यात्मिक पिता माना जाता था और वह बौद्धिक शिक्षा भी प्रदान करता था। वह शिष्य में किसी भी तरह की शैक्षणिक गुणवत्ता की न्यूनता का भी उत्तरदायी माना जाता था[14] । अर्थात् यदि शिक्षार्थी में किसी तरह की त्रुटि देखी जाती थी, तो उसकी त्रुटि का उत्तरदायित्व समस्त शिक्षकों का ही माना जाता था। कहा भी है -''अतीत्य बन्धूनवलङ्घ्य मित्राण्याचार्यमागच्छति शिष्यदोषः।[15]'' अर्थात् बन्धुओं तथा मित्रों को छोड़ कर शिष्य का दोष केवल

उसके शिक्षक पर आ पड़ता है। शिक्षार्थी के चरित्र का निर्माण व रक्षा करना भी शिक्षक का परम कर्त्तव्य व धर्म माना जाता था। शिक्षार्थी भी सर्वथा सभी प्रकार के कर्तव्यों का बोध रखता था, जैसे कि क्या ग्रहण करना है और क्या त्याज्य है।

शिक्षार्थी के प्रति शिक्षक के कर्तव्य मुख्यतः निम्न प्रकार थे -

- शिक्षक शिक्षार्थियों का मानसिक तथा आध्यात्मिक पिता समझा जाता था, अतः वह छात्रों की न्यूनताओं के लिए उत्तरदायी होता था।
- वह शिक्षार्थी के आचरण पर नियंत्रण रखता था और उन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान कराता था।
- वह शिक्षार्थियों के भोजन, स्वास्थ्य तथा शयन के संबंध में आवश्यक निर्देश देता था।
- गरीब शिक्षार्थियों के लिए भोजन, चिकित्सा तथा छात्रवृत्तियों की व्यवस्था करता था।
- निःस्वार्थ भाव से शिक्षा देना तथा शिक्षार्थियों के यश की कामना करना।
- शिक्षार्थियों के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास में सहयोग करना।
- शिक्षार्थियों को जीवन के चरम सत्य का ज्ञान प्रदान करना।
- शिक्षार्थी की क्षमताओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना तथा उनके अनुरूप शिक्षा-सामग्री एवं शिक्षण विधि का प्रयोग करना।

शिक्षक सर्वदा शिक्षार्थियों को नये-नये विषय का ज्ञान प्रदान करते थे। वे अपना सम्पूर्ण ज्ञान शिष्यों को ही प्रदान करने के लिए सर्वदा तत्पर रहते थे, कुछ भी अपने पास गुप्त नहीं रखना चाहते थे। गुरु कभी भी नहीं चाहता था कि उसके शिक्षार्थियों के ज्ञान में कोई न्यूनता रहे और कहीं अपमान का भागी बनना पड़े[16] ।

अर्थात् शिक्षक ने जो कुछ भी किसी भी प्रकार विद्या ग्रहण की है, वह सब कुछ शिक्षार्थियों को समर्पित कर देना चाहता था।

श्रीमद्भगवद्गीता में शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध को परिभाषित करते हुए बताया है -

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।[17]

अर्थात् गुरु के उपदेश से पूर्णतया लाभान्वित होने के लिए शिष्य में जिस भावना तथा बौद्धिक क्षमता का होना आवश्यक है, उसका भी यहाँ वर्णन किया गया है। वैसे तो साष्टाँग दण्डवत् शरीर से किया जाता है, परन्तु यहाँ प्रणिपात शब्द से शिष्य का प्रपन्नभाव और नम्रता गुरु के प्रति आदर एवं आज्ञाकारिता अभिप्रेत है। सामान्यत लोगों को अपने ही

विषय में पूर्ण अज्ञान होता है। वे न तो अपने मन की प्रवृत्तियों को जानते हैं और न ही मनःसंयम की साधना को। अतः उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है, कि वे गुरु के समीप रह कर उनके दिये गये उपदेशों को समझने तथा उनके अनुसार आचरण करने में सदा तत्पर रहें।जिस प्रकार जल का प्रवाह ऊपरी धरातल से नीचे की ओर होता है, उसी प्रकार ज्ञान का उपदेश भी ज्ञानी गुरु के मुख से जिज्ञासु शिष्य के लिये दिया जाता है। इसलिये शिष्य में नम्रता का भाव होना आवश्यक है, जिससे वे उपदेश को यथावत् ग्रहण कर सकें।

शिक्षकों के प्रति शिक्षार्थियों के कर्तव्य प्रमुख रूप से निम्नलिखित हैं -

- शिक्षकों के साथ पिता के समान व्यवहार करें - 'पितरमिव गुरुमुपचरेत्'[18]।
- शिक्षक की आज्ञा का पालन करना सब गुणों से बढ़ कर है - 'गुर्वाज्ञाकरणं हि सर्वगुणेभ्योऽतिरिच्यते'[19] ।
- सन्देह होने पर शिष्य इस प्रकार पूछे कि शिक्षक कुपित न हो - ''संदिहानो गुरुमकोपयन्नापृच्छेत्''[20]।
- गुरु की आज्ञा पर विचार नहीं करना चाहिए - ''आज्ञा गुरुणामविचारणीया''[21] ।
- शिक्षार्थियों का बाह्य व्यवहार भी शिक्षकों के प्रति उपयुक्त होना चाहिए।
- उन्हें शिक्षकों को उचित ढंग से अभिवादन करना चाहिए।
- उन्हें शिक्षक के समक्ष उच्च आसन नहीं ग्रहण करना चाहिए।
- उन्हें आकर्षक वस्त्र भी शिक्षक के सामने धारण नहीं करना चाहिए।
- उनके लिए परनिंदा करना वर्ज्य था।
- शिक्षक की आज्ञा का पालन, शिक्षकगृह की अग्नि को प्रज्वलित रखना।
- शिक्षक के यहाँ गायों को चराना, ईंधन इकट्ठा करना, बर्तन साफ करना और शिक्षक गृह की सफाई करना।
- सादा जीवन व्यतीत करना, विद्याभ्यास करना, संयमित जीवन व्यतीत करना तथा साधारण एवं उत्तेजना-रहित भोजन करना।
- ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना।
- भिक्षा माँगना सभी के लिए अनिवार्य था।
- शिक्षक तथा शिक्षार्थी का संबंध विद्यार्थी जीवन के समाप्त होने के बाद भी पूर्ववत् बना रहता था।

शिक्षार्थी जीवन के अतिरिक्त शिक्षक-शिक्षार्थी का पारस्परिक सम्बन्ध

यह भी देखा जाता है, कि जो शिक्षार्थी विद्या-समाप्ति के पश्चात् घर जाकर पुनः शिक्षक के समीप आ कर उनको उपहार प्रदान करते थे। शिक्षक भी उन्हें पुनरागमन के लिए कोई फल प्रदान करते थे। इसी प्रकार शिक्षक भी शिक्षार्थी के घर-घर जा कर उनको देखते थे और सीखी गयी विद्या के बारे में चर्चा किया करते थे।

शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् भी शिक्षक-शिक्षार्थी-सम्बन्ध निरन्तर जारी रहता था तथा इससे दोनों को व्यवहार में कहीं पर भी स्वार्थभाव नहीं दिखायी देता था। शिक्षक-शिक्षार्थी दोनों में आध्यात्मिक सम्बन्ध था। किसी व्यावसायिक लेन-देन का कोई चिन्तन नहीं था। शिक्षक-शिक्षार्थी दोनों एक दूसरे के कल्याण की भावना से प्रार्थना करते थे - ऊँ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ऊँ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः ।[22] ऐतरेयोपनिषद् के तृतीय अनुवाक में आचार्य अपने और शिष्य के अभ्युदय की कामना करते हुए कहता है- सह नौ यशः। सह नौ ब्रहवर्चसम्।।[23] अर्थात् आचार्य और शिक्षार्थी दोनों का यश एक साथ बढ़े, एक साथ दोनों का ब्रह्मतेज बढ़े।

शिक्षक-शिक्षार्थी का सम्बन्ध सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन में भी परस्पर उपयुक्त सन्तुलन स्थापित करने में सहयोगी रहा है। शिक्षक शिक्षार्थी का चरित्रनिर्माण कर धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थो की प्राप्ति में सहायक और उत्प्रेरक रहा है। यही कारण है कि आज भी हमारी वैदिककालीन अद्वितीय शिक्षापद्धति अमर है। शिक्षक जो शान्त, विनयशील, शुद्धात्मा, सम्पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त, शम आदि साधनों से सम्पन्न, श्रद्धालु, सुस्थिर विचार वाला, खानपान में शारीरिक शुद्धि से युक्त, धार्मिक, शुद्धचित्त, सुदृढ़ व्रत एवं सुस्थिर आचार से युक्त, कृतज्ञ एवं पाप से डरने वाला होता है, ऐसे शिक्षक की सेवा में आस्था, श्रद्धा और विश्वास से ज्ञान प्राप्त होता है। कहा भी गया है कि - ''श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्''। ज्ञानार्जन करके शिष्य अपने शिक्षक के समान तेजस्वी एवं ओजस्वी बनने में सफल होता था।

अर्थात् एक अच्छे शिक्षक का कार्य शिक्षार्थी के स्वयं द्वारा सीखने की प्रक्रिया में सहायक बनना है। वह छात्र को ऐसी पृष्ठभूमि प्रदान करे जिससे शिक्षार्थी स्वयं सीखने के लिए अभिप्रेरित हो जाए। यद्यपि एकलव्य ने अपने किसी शिक्षक से विधिवत शिक्षा ग्रहण नहीं की थी, किन्तु वह गुरु द्रोणाचार्य को ही अपना शिक्षक मानने लगा था। इस कारण अपने शिक्षक अर्थात् गुरु द्रोणाचार्य को पूर्ण श्रद्धा व मन से सम्मानभाव से देखने व समझने के कारण ही आज एकलव्य का नाम भारतीय वाङ्मय में आदर्श शिक्षार्थी के रूप में स्वीकार किया जाता है। सच्चे मन से स्वीकार किए गए गुरु की महिमा भी भारतीय वाङ्मय में प्रसिद्ध व शास्त्रोक्त है, अतः एकलव्य का प्रसंग सर्वदा स्मरणीय है।

सन्दर्भ

1. मालविकाग्निमित्र - 1/16
2. अर्हद्गीता - 24/15
3. हिन्दी विश्वकोश - पृ.सं. 118
4. चाणक्यसूत्राणि - 337
5. मनुस्मृति - 2/70
6. वैदिक कालीन शिक्षा पद्धति।
7. कामन्दकीय नीतिसार।
8. कामन्दकीय नीतिसार।
9. मनुस्मृति - 2/116
10. मनुस्मृति - 2/197
11. मनुस्मृति - 2/199-200

12. पुत्रमिवैनमभिकांक्षन्।। आ.ध.सू. 1/2/8/24
तस्माच्छोत्रियमनूचानमप्रजोऽजोऽसीति न वदन्तीति।। वशिष्ट.ध.सू. 2/10
13. नीतिवाक्यामृत - 11/24
14. अतीत्य बन्धूनवलम्ब्य शिष्यानाचार्यमागच्छति शिष्यदोषः। पंचतंत्रम् 1/21
15. पंचरात्रम् - 1/21
16. नाहमिदं वेद। यद्यवेदिषं कथं ते नावक्ष्यामीति।
स्मूलो वैष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। प्रश्नोपनिषद् 6/1
17. श्रीमद्भगवद्गीता - 4/34
18. नीतिवाक्यामृत - 11/24
19. त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र - 1/8
20. नीतिवाक्यामृत - 11/15
21. रघुवंश महाकाव्य - 14/46
22. कठोपनिषद।
23. ऐतरेयोपनिषद् - तृतीय अनुवाक

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1. शिक्षा वेदांग, डॉ.सुदर्शन देव आचार्य एवं डॉ. बलवीर आचार्य, संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1997
2. वैदिक कालीन शिक्षा पद्धति, डॉ. लक्ष्मीचन्द आचार्य, श्री सोमनाथ ढल संजय प्रकाशन, दिल्ली - प्रथम संस्करण 1997
3. बृहद संस्कृत निबन्ध कलिका, आचार्य पं. शिवप्रसाद द्विवेदी, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली - 1998 ।
4. संस्कृतनिबन्धशतकम्, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, - 2004 ।
5. भारतीय शिक्षा की समस्याएँ तथा विद्यालय प्रबन्ध, डॉ. रामपालसिंह एवं प्रो. पृथ्वी सिंह, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधुपर - प्रथम संस्करण 1999 ।
6. शिक्षा का वैश्वीकरण - डॉ. मोतीलाल जोशी,राजस्थान शिक्षक प्रशिक्षण विद्यापीठ एवं राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन, शाहपुरा बाग, जयपुर - प्रथम संस्करण 2012
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
8. बृहद् विश्वसूक्ति कोश, डॉ.श्याम बहादुर वर्मा, डॉ. मधुवर्मा, प्रभात प्रकाशन, 4/19, आसफअली रोड़, नई दिल्ली, संस्करण - 2000
9. हिन्दी विश्वकोश, सम्पादक - नगेन्द्रनाथ वसु, प्रकाशक - बी.आर.पब्लिसिंग कॉर्पोरेशन, दिल्ली।
10. विश्व संस्कृत सूक्तिकोश, महोपाध्याय ललित प्रभसागर, प्रकाशन - कन्हैया लाल गोयल, भाषा भवन, हालनगंज, मथुरा, द्वि.सं. 2000

राष्ट्रोपनिषत्-प्रस्तावना-शतकम्

रचयिता
आचार्य डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर विद्यालङ्कार
(महामहिम-राष्ट्रपति-सम्मानित)

हिन्दी-रूपान्तरण-कर्त्री
सौ. श्रीमती इन्दु शर्मा
एम.ए., शिक्षाचार्या

अंग्रेजी-रूपान्तरण-कर्त्ता
महामण्डलेश्वर स्वामी श्री ज्ञानेश्वरपुरी
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

(गताङ्कादग्रे) **धर्माचरणं सम्प्रति, विपुलाडम्बर - ग्रस्तं लोलुक्यते ।**
वृथैवात्र लोकानां, श्रम-धन-समय-नाशः किं न बोभवीति ? ॥77॥

वर्तमान में धर्माचरण बहुत आडम्बरों से ग्रस्त हुआ देखा जा रहा है। क्या इस आडम्बर में लोगों का व्यर्थ ही श्रम, धन और समय का बहुत सारा नाश नहीं हो रहा है ?

Today religiousness can be seen to be afflicted with pomp. Aren't the effort, time and money destroyed with the pomposity?

धर्माचार्याः किमत्र सन्ति मौनिनः ? किमङ्कुशं नहि निदधति ? ।
देवता - चित्राणीह, पददलितानि दृष्ट्वा व्यथितं मनो नः ॥78॥

धर्माचार्य इस और क्यों मौनी बने बैठे हैं ? वे इस आडम्बर पर क्यों नहीं अङ्कुश रखते ? इस आडम्बर में देवताओं के चित्रों को पद-दलित होते देख कर, हे गुरुदेव ! हमारा मन तो बहुत व्यथित हो रहा है।

Why are the religious leaders silent on the matter? Why don't they put the stop on this pompousness? Oh Gurudev, we feel distressed by seeing that the importance of the gods is being reduced by it.

जगद्गुरु वोऽपि नैके, स्वयम्भुवः सन्ति यत्र तत्र सर्वत्र ।
किं तेऽपि नहि समाजं, त्यक्तुं धर्माडम्बरं समुपदिशन्ति ? ॥79॥

यत्र तत्र सर्वत्र स्वयम्भू जगदुरु भी बहुत हैं। वे भी समाज को धर्माडम्बर त्यागने के लिये क्यों नहीं उपदेश देते हैं ?

Here and there, everywhere are many self-proclaimed Jagadgurus (gurus of the world). Why don't they preach renouncing of the religious pompousness?

तेषां च यदि समाजः, करोत्युपेक्षां न च शृणोति तद्वचांसि ।
जगद्गुरुत्वगौरवं, तत् किं पुनस्तदीयं न विनश्यतीह ? ॥80॥

और यदि समाज उन जगद्गुरुओं की उपेक्षा करता है और उनके वचन नहीं सुनता है, तो क्या फिर उनके जगद्गुरु होने का गौरव यहाँ विनष्ट नहीं होता ?

And if the society ignores those Jagatgurus and doesn't follow their words, isn't it then the grace/prestige of being a Jagatguru destroyed?

निर्धनो निर्धनतरो, धनिको धनिकतरश्च यत्र बोभवीति ।
तत्र तु राष्ट्राभ्युदयो, जनिष्यते कथमिति महती चिन्ता नः ॥81॥

जहाँ निर्धन ज्यादा निर्धन और धनिक ज्यादा धनिक होता जाता है, वहाँ तो राष्ट्र का अभ्युदय कैसे होगा ? यह हमारी बहुत बड़ी चिन्ता है।

How is it possible for the country to prosper if the poor are getting poorer and rich are getting richer? This is our great worry.

यावन्न शासनं स्वां, सुधारयितुं रीतिं ध्यानं दास्यते ।
तावत् स्वराष्ट्राभ्युदयदर्शनं दुर्लभमेव किमस्ति न हीह ? ॥82॥

जब तक शासन अपनी रीति को सुधारने के लिये ध्यान नहीं देगा, तब तक अपने राष्ट्र के अभ्युदय का दर्शन क्या यहाँ दुर्लभ ही नहीं रहेगा ?

Until the rulers give attention to their policy, won't our country's progress be a faraway dream?

भौतिक-समृद्धौ यथा, शासनं वरीवर्त्ति जागरूकम् ।
तथाऽऽध्यात्मिक - समृद्धौ, प्रसुप्तमेव दरीदृश्यते ॥83॥

शासन जिस प्रकार भौतिक समृद्धि के विषय में जागरूक है, उस प्रकार वह शासन आध्यात्मिक समृद्धि के विषय में तो प्रसुप्त सा ही दिखायी देता है ।

As much the administration is active/attentive in achieving the material prosperity it is inactive in achieving the spiritual one.

(क्रमशः)

ISSN : 2582-6360

विविध साहित्यिक गतिविधियाँ

प्रकाशक : विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान - कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Website : vgda.in **Youtube :** www.youtube.com/c/vishwagurudeepashram **E-mail :** jaipur@yogaindailylife.org